शोध मंथन Vol. XIII No.IV Oct.-Dec. 2022 ISSN: (P) 0976-5255 (e) 2454-339X
Available at: *http:/shodhmanthan.anubooks.com*

हिन्दी साहित्य में दलित चेतना (एक समाजशास्त्रीय विश्लेषण)

प्राप्तिः 05.12.2022
स्वीकृतः 24.12.2022

83

डॉ० मीना शुक्ला
एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग
वी०एम०एल०जी० कॉलेज, गाजियाबाद
ईमेलः *shuklameena54@gmail.com*

सारांश

भारतीय समाज में जाति व्यवस्था से जुड़ी हुई स्तरीकरण की प्रक्रिया ने समाज को उच्चता–निम्नता की श्रेणियों में विभाजित कर ब्राह्मणों को सर्वोच्च और शूद्रों को सबसे नीचा स्थान दिया। लम्बे युगों से शूद्रों/दलितों को शोषण, अन्याय तथा अमानवीय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होना पड़ा। विभिन्न समाज सुधार आन्दोलनों एवं साहित्यकारों ने समाज में उपेक्षित जीवन व्यतीत कर रहे इस वर्ग की पीड़ा व दर्द को अपने लेखन में उतारना शुरू किया और वहीं से दलित साहित्य का जन्म हुआ। प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य भारतीय समाज में लिखे गये साहित्य में उपन्यास तथा आत्मकथाओं के माध्यम से दलित विमर्श का विश्लेषण करना है।

उपन्यासकार प्रेमचन्द, यशपाल, मोहनदास नेमिशराय और आत्मकथा लेखक भगवान दास और ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि द्वारा रचित साहित्य का अध्ययन कर समाज में दलित–विमर्श और उनमें अपने अधिकारों के प्रति सामाजिक चेतना की जाग्रति का विश्लेषण किया गया है। निसन्देह ही दलित साहित्य ने दलितों में प्रतिक्रियात्मक व्यवहार व सामाजिक चेतना को विकसित कर अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाने की प्रेरणा व जाग्रति हेतु महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

मुख्य बिन्दु

दलित विमर्श, शोषण, अन्याय, पीड़ा और चेतना।

जाति व्यवस्था का प्रकार्यात्मक महत्व भारतीय समाज में आज भी बना हुआ है। यदि यह व्यवस्था सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर रही होती तो सम्भवतः इसका अन्त हो गया होता परन्तु इसके अन्त की सम्भावना अभी दिखाई नहीं पड़ती। केवल इसके स्वरूपों और प्रकार्यों में अन्तर आ गया है। डॉ0 अम्बेडकर को ऐसी अनुभूति थी कि भारतीय समाज में जाति की जड़ें इतनी गहराई तक पहुँच गयी है कि उसे सरलता से दूर करना अथवा प्रभावहीन बनाना सम्भव नहीं है। उनकी सोच थी कि जाति के अवरोधों को तभी दूर किया जा सकता है जब भारतीय समाज में आर्थिक एवं सांस्कृतिक निर्बलता को जाति के आधार पर विश्लेषित न किया जाए।

जिस धर्म में 'वसुधैव कुटुम्बकम' एवं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', 'अतिथि देवो भवः' जैसे उच्च आदर्श व मूल्य परम्परा रही हो, वहाँ अस्पृश्यता जैसी हेय तथा अमानवीय कुप्रथाओं का कोई औचित्य

नहीं है। ऐतिहासिक साक्ष्य बताते हैं कि भारत में वर्ण का आधार जन्म न होकर कर्म था। वाल्मीकि जन्म से शूद्र थे जो रामायण के रचियता हुए, वेद–रचियता महर्षि व्यास केवट कन्या के पुत्र थे, महात्मा विदुर नीति निपुण दासी पुत्र थे।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि मानव उच्चता को कोई धर्म इतने सुन्दर रूप से व्यक्त नहीं कर सकता जितना हिन्दू धर्म और किसी धर्म में मानव का इतना अधोपतन देखने को नहीं मिलता जितना हिन्दू धर्म में। महात्मा गाँधी के अनुसार अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का सबसे बड़ा कलंक है। मुंशी प्रेमचन्द ने 'गोदान' में लिखा है हमारा सारा धर्म रोटी–बेटी के सम्बन्धों तथा छुआछूत के नियमों तक सिमट कर रह गया है। इस एक आत्मतत्व को 'एक बूँद से सब उत्पन्न, को वामन को शूद्र' को चुनौती देती है।

दलितों को अपने साहित्य में स्थान देने वाले प्रेमचन्द उच्च वर्ग के स्वार्थों और शड़यन्त्रों की पोल खोलते हुए लिखते हैं–''कि अछूत के पैसे तो आप बेधड़क ले लेते हैं, अछूत कोई मन्दिर बनाये, आप दलबल के साथ जाएंगे, मन्दिर में देवता की स्थापना करेंगे, तर माल खाएंगे, दक्षिणा लेंगे इसमें कोई पाप नहीं लेकिन अछूत मन्दिर में नहीं जा सकता, इससे देवता अपवित्र हो जाएंगे। अगर आपके देवता ऐसे निर्बल हैं कि दूसरों के स्पर्श से ही अपवित्र हो जाते हैं तो उन्हें देवता कहना ही मिथ्या है। देवता वह है जिसके सम्मुख जाते ही चांडाल भी पवित्र हो जाए।''[1]

हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं में आज 'दलित चेतना' उभर कर सामने आने लगी है। समकालीन दलित साहित्यकारों ने अपने–अपने लेखन में दलित समाज का यथार्थ चित्रण कर दलित चेतना को अवश्य उभारा है। दलित चेतना की दृष्टि विशुद्ध मानवता की है। स्वतन्त्रता, समता एवं बंधुता के मूल्यों को उसने बौद्ध धर्म से प्राप्त किया है। दलित साहित्य सामन्ती मूल्यों और सवर्णों के उत्पीड़न के खिलाफ दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य है। दलित साहित्य का मूल स्वर वेदना, विद्रोह, निशेध और उत्थान है। हिन्दी में दलित साहित्य का सष्जन आठवें और नौवें दशक से शुरू हुआ। ओमप्रकाश वाल्मीकि, श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ0 सुखवीर सिंह, चन्द्रकांत बराढे, डॉ0 दयानन्द बटोही, डॉ0 सुमन पाल आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

वाल्मीकि जी की कविताओं ('सदियों का संताप' और 'तब तुम क्या करोगे') में वर्ण व्यवस्था की क्रूरता से प्राप्त यातना का चित्रण पूरे तीखेपन के साथ हुआ है। प्रेमचन्द की कहानियों और उपन्यासों में भी दलित चेतना की अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। 'दूध का दाम', 'ठाकुर का कुँआ', 'सद्गति' और 'कफन' जैसी कहानियाँ दलित चेतना का मार्मिक चित्रण करती हैं। सन् 1904 ई0 में दलित कहानियाँ नामक संकलन के प्रकाशन के बाद हिन्दी में दलित कहानियाँ लिखी जाने लगीं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ0 प्रेमशंकर, जयप्रकाश कर्दम, दयानन्द बटोही, मोहन दास नैमिशराय जैसे सशक्त दलित लेखकों ने दलित कथा यात्रा को चरम सीमा तक पहुँचाया। दलित पीड़ा का सजीव चित्रण करती हुई रचनाओं के क्रम में शिवमूर्ति की 'तर्पण', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', मोहन दास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे', सूरजपाल की 'तिरस्कृत', बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' आदि महत्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त दलित साहित्य को समर्पित स्वतन्त्र पत्रिकाएं भी प्रकाशित हो रही हैं। इनमें 'आश्वस्त' (उज्जैन), 'संघर्षरत आम आदमी' (दिल्ली), 'हंस' (दिल्ली), 'उपेक्षा' (दिल्ली) आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपरोक्त सन्दर्भ में यह बताना महत्वपूर्ण होगा कि प्रस्तुत पत्र का उद्देश्य भारतीय समाज में लिखे गये साहित्य की विभिन्न विधाओं में दलितों एवं गैर दलित साहित्यकारों द्वारा लिखा गया

साहित्य किस प्रकार से दलितों में सामाजिक चेतना को जाग्रत कर दलित विमर्श को जन्म दे रहा है, का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से विश्लेषण करना है। प्रस्तुत पत्र में हिन्दी साहित्य की प्रमुख विधाओं उपन्यास और आत्मकथा के माध्यम से दलित विमर्ष विश्लेषण का प्रयास किया गया है।

15वीं एवं 16वीं शताब्दी में (मध्यकालीन युग में) धार्मिक विचारों के क्षेत्र में आन्दोलन का विकास हुआ जिसमें हिन्दू धर्म एवं सामाजिक बुराइयों एवं कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई जाने लगी। भक्ति आन्दोलन के माध्यम से समाज में व्याप्त असमानता तथा भेदभाव को कम महत्व दिया जाने लगा था।

हिन्दी साहित्य में दलित चेतना के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि एक साहित्यकार की सार्थकता और सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसने शोषित दलित और प्रताड़ित वर्ग के दुख, दर्द और संघर्षों को वाणी देने के लिए कितनी प्रतिबद्धता दिखाई और अपनी लेखनी से जनमानस को जगाने अथवा झकझोरने में किस सीमा तक सफल रही। यही उसके लेखन की सार्थकता और प्रासंगिकता भी है। दलित साहित्य दो भागों में बाँट कर समझा जा सकता है। प्रथम वह जो स्वयं दलित है जिसने स्वयं सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक अन्याय और क्रूरता को सहा है, जिया है और उस पीड़ा की टीस ने साहित्य को जन्म दिया। और दूसरा भाग वह है जो गैर दलित है जिसने बड़े निकट से दलितों के साथ हुए अन्याय व पीड़ा को देखा है और उनकी संवेदनाओं ने उन्हें उसकी अभिव्यक्ति के लिए लेखन को माध्यम बनाने के लिए बाध्य किया।

हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा उपन्यास में दलित विमर्श की अभिव्यक्ति और भूमिका अत्यन्त प्रभावी रही है। 20वीं सदी के तीसरे दशक के उपन्यासकारों ने दीन–दुखियों और दरिद्रों की दुनिया को तीव्र अभिव्यक्ति दी। प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने उन व्यक्तियों की कथा को केन्द्र बनाया जो साहित्य और जीवन की परिधि से बाहर समझे जाते थे। निसन्देह ही उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द ने दलित विमर्श की परम्परा को अंकुरित किया। हिन्दी उपन्यास लेखन परम्परा में सर्वप्रथम 'गोदान' में दलित वर्ग ब्राह्मणों के सामने सिर उठाकर खड़ा दिखाई देता है। ''हम आज या तो मातादीन को चमार बनाकर छोड़ेंगे या उसका अपना रक्त एक कर देंगे। तुम हमें ब्राह्मण नहीं बना सकते, हम तुम्हें चमार बना सकते हैं।''[2] मातादीन द्वारा उन्होंने जन्मगत श्रेष्ठता का तीव्र विरोध भी करवाया है–''ब्राह्मण नहीं चमार ही रहना चाहता हूँ, जो अपना धर्म पाले वही ब्राह्मण है जो धर्म से मुँह मोड़े वही चमार है।''[3] प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' में दलित संघर्ष, पीड़ा एवं शोषण का प्रस्तुतीकरण हुआ है। उपन्यास का नायक अमरकान्त अपना घर छोड़कर चमारों के गाँव में जीवन बिताता है। उसकी पत्नी सुखदा भी दलितों के लिए संघर्ष करती है–''अधिकारी मुझे गिरफ्तार कर लें। उन लाखों गरीबों को कहाँ ले जाएंगे जिनकी आहें आसमान तक पहुँच रही हैं। यही आहें एक दिन किसी ज्वालामुखी की भाँति फटकर सारे समाज के साथ सरकार को भी विध्वंस कर देंगी।''[4] सुखदा तत्कालीन पददलित नारियों को सचेत और अहंकारी पतियों को चुनौती देती हुई कहती है–''पुरुषों का यह अत्याचार बहुत दिनों तक न चलेगा। अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे उसकी स्त्री उसके पाँव धो–धोकर पीएगी।''[5]

'जख्म हमारे' उपन्यास दलित लेखक और चिन्तक मोहनदास नैमिशराय द्वारा रचित अति संवेदनशील कथाकृति होने के साथ–साथ समकालीन इतिहास का एक मार्मिक दस्तावेज भी है। यह उपन्यास दुख, वेदना, जातिगत हीनता, दलितों पर सवर्णों के अत्याचार, साम्प्रदायिकता का दंश आदि समस्याओं से ओतप्रोत है। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने गुजरात की उस महाविभीषिका का

प्रभावशाली चित्रण किया है जिसकी ज्वाला में हजारों जीवन झुलस गये थे। साम्प्रदायिक दंगों में स्त्रियों पर होने वाले बुरे बर्ताव, बर्बरता, हिंसा आदि का मार्मिक वर्णन किया गया है। इसके माध्यम से दलित जीवन की विसंगतियों को उजागर किया गया है। दलितों के प्रति सवर्णों की दूषित एवं स्वार्थी मानसिकता को भी चित्रित किया गया है। उपन्यासकार ने गुलाम अहमद के गाँव की यथास्थिति का चित्रण इस प्रकार किया है–''गाँव में स्कूल नहीं था, दलित समाज के लोग मजदूरी करते थे। बच्चे, बड़े होते–होते मजदूर बन जाते थे। वे डिप्टी कलैक्टर नहीं बन पाते थे। आजादी के पचास वर्ष बीत जाने के बाद भी उनके व्यवसाय वैसे ही थे। गाँव में सामुदायिक भवन था जहाँ बैठकर सवर्ण दलितों के भाग्य का फैसला करते थे। दलित उनके निर्णय को केवल सुनते थे।''[6]

अपने उपन्यासों के माध्यम से दलितों के शोषण, पीड़ा उनके विरुद्ध अन्याय को चित्रित करते उपन्यासों में–आखिरी दाँव (भगवती चरण वर्मा), 'नाच्यो बहुत गोपाल' (अमृत लाल नागर), 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र), 'एक टुकड़ा इतिहास' (गोपाल उपाध्याय), 'कब तक पुकारूँ' (रांगेय राघव), 'सर्पगन्धा' (शैलेश मटियानी) आदि का योगदान दलित विमर्श में महत्वपूर्ण कहा जा सकता है।

अपने कटु अनुभवों तथा सामाजिक व्यवस्था के कलुषित अतीत की यथार्थ अभिव्यक्ति हेतु आत्मकथा सर्वाधिक उपयुक्त विधा है। इसी कारण प्रायः सभी दलित लेखकों द्वारा आत्मकथा को लेखन के लिए चुना जा रहा है। आत्मकथा लेखन पुनः लेखक को उसी पीड़ा और यातना तक पहुँचा देता है। आत्मकथा में सर्वप्रथम भगवान दास ने 'मैं भंगी हूँ' में मेहतर जाति के इतिहास को आत्मकथात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। मोहनदास नैमिशराय की 'अपने–अपने पिंजरे', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' ने जहाँ एक ओर आत्मकथा लेखन की सशक्त आधारशिला स्थापित की, वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज में व्याप्त अस्पृश्यता की पराकाष्ठा तथा सामाजिक भेदभाव और समाज में अमानवीय मूल्यों का खुला चित्रण किया है।

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' सर्वाधिक चर्चा में रही है। वे लिखते हैं– ''त्यागियों के बच्चे 'चूहड़े' का कहकर चिढ़ाते थे, कभी–कभी बिना कारण पिटाई कर देते थे। स्कूल में प्यास लगे तो हैंडपम्प के पास खड़े रहकर किसी के आने का इन्तजार करना पड़ता था। हैंडपम्प को छूने पर बवेला हो जाता था। लड़के पीटते थे और मास्टर लोग भी सजा देते थे।''[7]

वास्तव में दलित समाज ने भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्य धारा के अन्दर एक लम्बी लड़ाई लड़ी है। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा 'अपने–अपने पिंजरे' में दलित त्रासदी को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। मोहनदास नैमिशराय ने अपनी आत्मकथा में दलितों की बस्ती के चित्रण के माध्यम से दलित जीवन की अमानवीय दशाओं को व्यक्त किया है। उन्होंने बताया कि जाति जन्म से ही पैदा हो जाती है। अपने अन्दर की टीस को अभिव्यक्त करते हैं–''पीढ़ी दर पीढ़ी हम गुलाम थे। माँ जानती है कि पैदा होने वाले बच्चे के माथे पर जन्म के साथ ही उसकी जाति लिख दी जाती है। उसे उसकी जात से रूबरू करा दिया जाता है।''[8]

नैमिशराय जी बचपन से जिस स्कूल में जाते थे, वह चमारों का स्कूल था। इस तरह चमारों का कुँआ, चमारों का नीम, चमारों की गली, चमारों की पंचायत आदि के साथ उनकी जात जुड़ी हुई थी। 'तिरस्कृत' सूरज पाल द्वारा लिखित आत्मकथा में भंगी जाति का तिरस्कार और उसके हेय जीवन की तस्वीर दिखाई देती है। सवर्णों के सामाजिक व धार्मिक उत्सवों के अवसर पर गरीब

दलितों द्वारा भूख मिटाने के लिए जूठन एकत्र करना, उसमें भी कुत्तों और कौओं का हमला, दलितों द्वारा सुअर की चर्बीयुक्त खाल को टॉफी, चाकलेट की तरह चूसना–यह आत्मकथा भंगी समाज का यथार्थ है, जिसमें सवर्ण समाज की विसंगतियों एवं कमजोरियों पर करारा व्यंग्य है।''[9]

डॉ0 श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने भी अपने एक लेख में दलित स्त्री–विमर्श की बात लिखी है। ''स्त्री विमर्श मे जब वंचित–दलित स्त्री के विमर्श की बात हुई तो तथाकथित कुलीनता का आग्रह करने वाली कुछ सुविधा–भोगी लेखिकाएं विरोध में आयीं। प्रश्न उठने लगा कि देशकाल परिस्थितियाँ सम्पूर्ण साहित्यक पत्रकारिता के लिए एक जैसी थी, तो इससे इतर पत्रकारिता में हाशिए के लेखन को केन्द्र में लाने की आवश्यकता क्यों नहीं हुई। विपरीत परिस्थितियों में भी उपेक्षित समाज की स्त्रियों ने अपने रचनात्मक अस्तित्व की रक्षा के लिए काफी संघर्ष किये हैं।''[10]

भारत के संविधान के अनुच्छेद–15 (20वीं) के अन्तर्गत प्रावधान है कि जाति के आधार पर भारत के किसी भी नागरिक के साथ भेदभाव नहीं किया जाएगा। इससे पूर्व भी भारतीय समाज–सुधार आन्दोलन युग में अनेकानेक कवियों, उपन्यासकारों और कहानीकारों ने जाति की कट्टरता को एक सामाजिक बुराई के रूप में सूचीबद्ध किया जिससे दलितों के प्रति न्याय व्यवस्था को सुनिश्चित किया जा सके। सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में मानवाधिकारों के लिए निरन्तर किये गये प्रयासों ने दलित चेतना को प्रवाहित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही दलित साहित्यकारों द्वारा भी दुनिया के दूसरे देशों में अश्वेतों के विरुद्ध लिखे गये साहित्य से प्रभावित होकर अपनी पीड़ा व शोषण की अभिव्यक्ति के लिए दलित साहित्य को चुना। अतः कहा जा सकता है कि दलित साहित्य भारतीय समाज के समकालीन यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है, जिसमें दलितों के प्रति क्रूरता, अमानवीयता, शोषण व अन्याय का सजीव चित्रण है। कहीं–कहीं पर विभिन्न पात्रों द्वारा उनके प्रति हो रहे अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाते हुए भी दर्शाया गया है, जो दलितों में चेतना को तीव्रतम रूप में अभिव्यक्त करती है साथ ही इससे दलित चेतना भी प्रतिध्वनित होती है कि अगर स्थितियाँ नही बदलीं तो यह विद्रोह और आक्रोश किसी भी क्रांति का रूप ले सकता है।

निश्चित ही दलित साहित्य ने सदियों के मौन को स्वर देने का कार्य किया है। आज दलित न केवल साहित्य के माध्यम से अपितु अपने जातीय संगठनों में भी सशक्त हुआ है। यही कारण है कि उन्होंने अपनी अस्मिता को पहचानते हुए अधिकारों के लिए खुलकर बोलना शुरू कर दिया है। कुछ वर्षों पूर्व जब अनुसूचित जातियों के आरक्षण के मूल्यांकन की आवाजें उठने लगीं तो सभी आरक्षित जातीय संगठन विरोध हेतु सड़कों पर उतर आये और परिणामस्वरूप आरक्षण मूल्यांकन का मुद्दा वहीं समाप्त हो गया।

और अन्त में–'साहित्य समाज का दर्पण है' यह बात दलित साहित्य ने पूर्णतः सिद्ध कर दिखाई है। निसन्देह ही दलित साहित्य ने आज के तथाकथित आधुनिक कहे जाने वाले भारतीय समाज को आइना दिखाने का कार्य किया है और दलितों में प्रतिक्रियात्मक व्यवहार और सामाजिक चेतना को विकसित कर अपने अधिकारों के लिए जाग्रत करने में महत्वपूर्ण प्रकार्यात्मक भूमिका निभाई है।

''हमारा संघर्ष तब तक समाप्त नहीं हो जाता, जब तक एक भी व्यक्ति जन्म के आधार पर अछूत समझा जाएगा।''

–महात्मा गांधी

संदर्भ

1. सिंह, डा0 सुधा रानी. (2012). 'दलितों की वेदना ही दलित साहित्य की जननी'. पृष्ठ **42.** पत्र प्रस्तुतीकरण. राष्ट्रीय संगोष्ठी–वर्तमान समाज और साहित्य में दलित विमर्श. 2012. वी0एम0एल0जी0 कॉलेजः गाजियाबाद.
2. प्रेमचन्द. (1936). गोदान. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालयः बम्बई. पृष्ठ **208.**
3. वही. पृष्ठ **28.**
4. प्रेमचन्द. (1987). 'कर्मभूमि'. भारतीय ग्रन्थ निकेतनः नई दिल्ली. पृष्ठ **224.**
5. वही. पृष्ठ **187.**
6. मोहनदास नैमिशराय. 'जख्म हमारे'. भारतीय साहित्यास. https://www.bhartiyasahityas.com/product/zakh-hamare.
7. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. (1997). 'जूठन'. राजकिशोर प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **13.**
8. नैमिशराय, मोहनदास. (2009). 'अपने–अपने पिंजरे'. वाणी प्रकाशनः दिल्ली. पृष्ठ **17.**
9. चौहान, सूरजपाल. (2002). 'तिरस्कृत'. वाणी प्रकाशनः नई दिल्ली. पृष्ठ **63.**
10. सिंह, डॉ0 श्यौराज. (2022). 'बेचैन'. 'साहित्यिक उत्सवों और दलित विमर्श के बीच'. अमर उजाला. 13 नवम्बर. नई दिल्ली.